ISSN(Online) : 2319-8753

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

A Monthly Peer Reviewed Journal

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 3, Issue 7, July 2014

हिन्दी नवजागरण और भारतेंदु हरिश्चंद्र

Dr. Rita Pandey

Dept. of Hindi, Shri Lal Bahadur Shastri Degree College, Gonda, Uttar Pradesh, India

सारांश

“निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल” अर्थात अपनी भाषा की प्रगति ही हर तरह की प्रगति का मूलाधार है. इस सत्य का साक्षात्कार भारतेन्दु हरिश्चंद्र (9.9.1850-6.1.1885) ने आज से डेढ़ सौ साल पहले ही कर लिया था. इसीलिए हम भारतेन्दु को ‘आधुनिक हिन्दी का अग्रदूत’ कहते है. मात्र 34 वर्ष 4 माह की अल्पायु में उन्होंने दुनिया को अलविदा कह दिया. इस छोटी सी आयु में साहित्य के विविध क्षेत्रों में उन्होंने जो काम किया है वह अविश्वसनीय लगता है. उन्होंने ‘हरिश्चंद्र चंद्रिका’, ‘कविवचनसुधा’, ‘बालाबोधिनी’ जैसी पत्रिकाओं का संपादन किया, अनेक नाटक लिखे, नाटकों के अनुवाद किए और उसमें अभिनए किए, कविताएं, निबंध, व्यंग्य और आलोचनाएं लिखीं. भारतेन्दु मंडल के माध्यम से काशी के साहित्यकारों को एकजुट करके उनका नेतृत्व किया. साहित्यिक संस्कार उन्हें अपने पिता गोपालचंद्र से मिले थे जो ‘गिरिधरदास’ के नाम से कविताएं करते थे.भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी आलोचना के भी अग्रदूत कहे जा सकते हैं. हिन्दी गद्य के विकास और रूप निर्धारण में उनकी पत्रिका ‘हरिश्चंद्र चन्द्रिका’ का विशेष योगदान है. इस पत्रिका ने उस युग के आधुनिक दृष्टि सम्पन्न लेखकों को अपनी प्रतिभा निखारने का अवसर दिया. नाटक, भारतेन्दु की की सर्वाधिक प्रिय विधा रही. ‘भारत दुर्दशा’, ‘अंधेरनगरी’, ‘नीलदेवी’ जैसे कई मौलिक नाटकों के साथ ही उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला के नाटकों का अनुवाद भी किया. अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने ‘नाटक अथवा दृश्य काव्य’ नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी. इस कृति से नाटक के विषय में उनकी आधुनिक दृष्टि का पता चलता है.नाट्य रचना के अंतर्गत यथार्थवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता को महसूस करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं कि, “ अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री –परिपोषक काव्य, सहृदय सभ्यमंडली को नितान्त अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है.” (उद्‌धृत, भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं, रामविलास शर्मा, पृष्ठ-148)भारतेन्दु के समय हिन्दी नाटकों पर बंगला और अग्रेजी के साथ पारसी शैली के नाटकों का भी प्रभाव पड़ रहा था किन्तु भारतेन्दु को पारसी नाटकों की अभिनय शैली पसंद नहीं थी. उन्होंने पारसी नाटकों की प्रस्तुति और शैली पर व्यंग्य करते हुए लिखा है, “ काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक- मटक कर नाचने और पतली कमर बल खाय यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता.“ भारतेन्दु ने आलोचना के क्षेत्र में दो मूलभूत की स्थापनाएं की हैं. प्रथम तो यह कि शास्त्रीय सिद्धात परिवर्तनशील हैं. उनका युगानुकूल पुनराख्यान होना चाहिए. दूसरा यह कि काव्य का मूल्यांकन सामाजिक चेतना को भी दृष्टि में रखकर करना चाहिए. शास्त्रीय मर्यादा से युक्त होते हुए काव्य कृति तभी महत्वपूर्ण मानी जा सकती है जब उसमें समाज संस्कार की चेतना और देश भक्ति की भावना हो. भारतेन्दु के इस दृष्टिकोण का ही प्रभाव था कि आगे चलकर पं. बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमघन’ और प्रतापनारायण मिश्र जैसे आलोचकों ने साहित्य को जीवन के साथ संपृक्त करके देखा और साहित्य में संयम, मर्यादा और शुद्धाचरण की प्रतिष्ठा पर अधिक बल दिया. बाद में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया.

परिचय

विश्वनाथ त्रिपाठी ने नाटक-केन्द्रित भारतेन्दु की आलोचना दृष्टि का विश्लेषण करते हुए लिखा है, “भारतेन्दु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जनरुचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है. उन्होंने बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्यरचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है. भारतेन्दु के नाटक विषयक लेख में आलोचना के गुण मिल जाते हैं. ऐसी दशा में उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम आलोचक कहना अनुचित न होगा.”

ISSN(Online) : 2319-8753

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

A Monthly Peer Reviewed Journal

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 3, Issue 7, July 2014

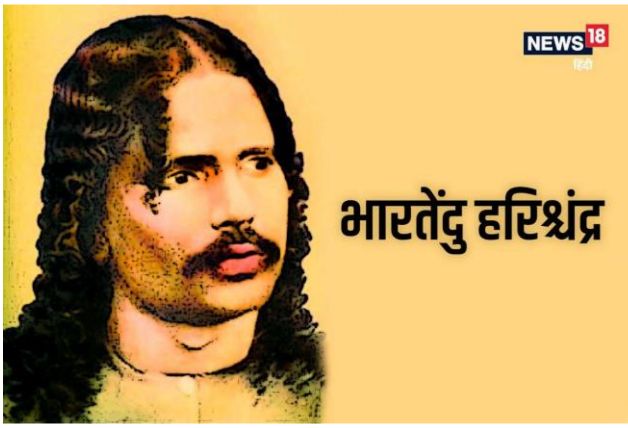

कविता के संबंध में भारतेन्दु के विचार हमें उनके निबंध 'जातीय संगीत' में मिलते है. इसमें उन्होंने लिखा है, " यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम- गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता. इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है."
हिन्दी के महत्व और उसकी प्रगति के लिए भारतेन्दु का चिन्तन बहुत महत्वपूर्ण है. भारतेन्दु का बलिया वाला मशहूर भाषण 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' का अन्तिम वाक्य है, "परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो. अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो." भाषा के संबंध में भारतेन्दु की यही मूल स्थापना है. उनका विश्वास है कि कोई भी जाति सिर्फ अपनी भाषा के माध्यम से ही प्रगति कर सकती है. पराई भाषा के माध्यम से पढ़ाई करने वाला व्यक्ति सिर्फ नकलची बन सकता है. उसके भीतर स्वाभिमान नहीं जग सकता. अपनी भाषा के बिना मनुष्य अपनी हीनता से मुक्त नहीं हो सकता. भारतेन्दु हमारा ध्यान अंग्रेजों की ओर आकर्षित करते हैं और कहते हैं कि अंग्रेजों ने कैसे प्रगति की ? उन्होंने अपनी भाषा के माध्यम से प्रगति की. यह बात हमें उनसे सीखनी चाहिए. (दोहा संख्या-35) अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि इनकी भाषा बहुत अटपटी है. लिखा कुछ जाता है, पढ़ा कुछ जाता है. लेकिन इस अटपटेपन के होते हुए भी अंग्रेजों ने अपनी भाषा नहीं छोड़ी. अंग्रेजी में जो ज्ञान- विज्ञान है उसे सीखकर हिन्दी में ले आना चाहिए. भारतेन्दु का प्रस्ताव है कि हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा सबके लिए सुलभ होनी चाहिए. सारी उन्नति की जड़ है- भाषा की उन्नति. इसके लिए सब लोगों को मिलकर प्रयास करनी चाहिए.[1]

हिन्दू –मुस्लिम एकता का महत्व भारतेन्दु भली- भाँति समझते हैं. वे हिन्दुओं और मुसलमानों- दोनो से अपने- अपने सुधार की बात करते हैं. मुसलमानों से वे कहते हैं, " मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें. ठीक भाइयों की भाँति हिन्दुओं से व्यवहार करें. ऐसी बात जो हिन्दुओं के जी दुखाने वाली हों न करें. घर में आग लगे तब जिठानी द्यौरानी को आपस का डाह छोड़कर एक साथ वह आग बुझानी चाहिए. जो बात हिन्दुओं को नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है. उनमें जाति नहीं, खाने –पीने में चौका- चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक –टोक नहीं, फिर भी बड़े सोच की बात है, मुसलमानों ने भी अब तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी."

भारतेन्दु हिन्दी और उर्दू को बुनियादी रूप से एक ही भाषा मानते हैं. वह केवल अरबी- फारसी से लदी हुई भाषा का विरोध करते हैं और चाहते हैं कि बोलचाल की भाषा में जो गद्य लिखा जाय उसकी लिपि देवनागरी हो. 'अगरवालों की उत्पत्ति' शीर्षक अपने लेख की भूमिका में वे कहते हैं, "इन अगरवालों का संक्षिप्त इतिहास इस स्थान पर लिखा जाता है. इनका मुख्य देश पश्चिमोत्तर प्रान्त है और बोली स्त्री और पुरुष सबकी खड़ी बोली अर्थात उर्दू है. उन्होंने अन्यत्र लिखा है, "मुझे शिक्षा से सदा दिलचस्पी रही है. मैं संस्कृत, हिन्दी और उर्दू का कवि हूँ तथा गद्य और पद्य में मैने बहुत सी चीजें लिखी हैं." वे उर्दू में भी 'रसा' उपनाम से कविताएं लिखते थे. उनकी सपष्ट मान्यता है कि, "इस खड़ी बोली में जब फारसी शब्दों की बहुतायत होती है और वह फारसी लिपि में लिखी जाती है तब उसे उर्दू कहा जाता है, जब इस तरह की विदेशी मिलावट नहीं होती और वह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, तब

ISSN(Online) : 2319-8753

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

A Monthly Peer Reviewed Journal

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 3, Issue 7, July 2014

उसे हिन्दी कहा जाता है. इस तरह हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उर्दू और हिन्दी में कोई वास्तविक भेद नहीं है." भारतेन्दु ने 1883-84 में 'हिन्दी भाषा' नाम से एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित की थी. इसमें शुद्ध हिन्दी के रूप में उन्होंने निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया है."पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए. क्या उस देश में बरसात नहीं होती ? या किसी सौत के फन्द में पड़ गए कि घर की सुध ही भूल गए. कहां (तो) वह प्यार की बातें, कहां एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना. हाय मैं कहां जाऊं, कैसी करूं, मेरी तो ऐसी कोई मुँहबोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊं, कुछ इधर- उधर की बातों ही से जी बहलाऊं."

विचार – विमर्श

हिन्दी नवजागरण से अभिप्राय सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारत के हिन्दी प्रदेशों में आये राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जागरण से है। हिन्दी-नवजागरण की सबसे प्रमुख विशेषता हिन्दी-प्रदेश की जनता में स्वातंत्र्य-चेतना का जाग्रत होना है। इसका पहला चरण स्वयं १८५७ का विद्रोह था। इसका दूसरा चरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से शुरू हुआ और तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी से शुरू हुआ।[2]

यह मान्यता तो बहुत पहले से प्रचलित रही है कि भारतेंदु हरिश्चन्द्र के उदय के साथ हिंदी में एक नए युग का आरम्भ हुआ, किन्तु इस नए युग को 'नवजागरण' नाम देने का श्रेय हिंदी में डॉ° रामविलास शर्मा को है।

लब्धप्रतिष्ठ प्रगतिशील आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन और साहित्य-सम्बन्धी जीवन्त तत्त्वों को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया है कि आज की अनेक समस्याओं का भी समाधान मिल सके। भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नवजागरण की समस्याओं पर विस्तार से विचार करते हुए इस पुस्तक में यह प्रतिपादित किया गया है कि भारतेन्दु हिन्दी की जातीय परम्परा के संस्थापक हैं और मुख्यतः उनकी बताई हुई दिशा में चलकर ही हमारा साहित्य उन्नति कर सकेगा। पुरानी पत्र-पत्रिकाओं एवं दुर्लभ पुस्तकों में दबे पड़े अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को पहली बार प्रकाश में लाकर डॉ. शर्मा ने भारतेन्दु का सर्वथा मौलिक चित्र पुनर्निर्मित किया है, जो बहुतों के लिए चौंकाने वाला सिद्ध हो चुका है। दो अध्यायों में भारतेन्दु के नाटकों पर विस्तार से विचार करने के साथ, उनकी कविता, उपन्यास, आलोचना, निबन्धकला एवं पत्रकारिता का भी आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। वास्तव में भारतेन्दु साहित्य सम्बन्धी सभी पक्षों की प्रामाणिक जानकारी के लिए यह अकेली पुस्तक पर्याप्त है।

'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1977) नामक पुस्तक के द्वारा डॉ रामविलास शर्मा ने 'नवजागरण' की नहीं बल्कि 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना प्रस्तुत की। इससे पहले भारत में नवजागरण की चर्चा प्राय: 'बंगाल नवजागरण' के रूप में ही होती रही है।

परिणाम

भारतेंदु हरिश्चंद्र का साहित्य मोटे तौर पर सन् 1858-1885 के बीच एक ऐसे ऐतिहासिक काल की उपज है, जिसके एक छोर पर भारतीय किसानों और सिपाहियों का राष्ट्रीय विद्रोह था, वहीं दूसरे छोर पर ह्यूम के नेतृत्व में राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म की घटना। भारतेंदु ने अपने संपूर्ण साहित्य में जनचेतना का संचार किया है। यही कारण है कि विद्वानों ने उनके काल को दो महत्त्वपूर्ण युगों का संधिकाल कहा है। वह प्रायः अपने साहित्य विद्रोह और संघर्ष दोनों मूल्यों के माध्यम से जनजागृति और जनजागरण की भावना का सूत्रपात करते रहे, जिसने कालांतर में नवजागरण का रूप धारण कर लिया।

सन् 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह पर टिप्पणी करते हुए फ्लोरा एनी ने 'इंडिया थ्रू द एजेजें' (1908) में लिखा है— "यह बहुत कुछ कृषकों के शांत एवं स्थिर जीवन में जागरण लाने की कोशिश थी। देशीय लोग तथा नये मालिक (अंग्रेज) के जीवन के बीच जहाँ भी टकराहट हुई, अशांति पैदा हुई। खैर यह विद्रोह असफल हुआ।" मार्क्स ने सन् 1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह के रूप में देखा। किंतु स्वयं अंग्रेज होने के बावजूद फ्लोरा एनी ने इसे एक महान विद्रोह के रूप में याद किया। जबकि कई भारतीय इतिहासकारों की नज़र में यह विद्रोह एक गद्दारी थी। जिसके सफल होने पर भारत पिछड़ जाता। उपर्युक्त अंग्रेजी इतिहासकार ने अपनी सीमाओं में

IJIRSET

ISSN(Online) : 2319-8753

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

A Monthly Peer Reviewed Journal

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 3, Issue 7, July 2014

सन् 1857 के महान विद्रोह को 'कृषकों के शांत एवं स्थिर जीवन में जागरण लाने की कोशिश' और 'जीवन की दो परंपराओं की परस्पर टकराहट' के रूप में देखा।

यदि भारतीय नवजागरण की एक धारा भारतीय परंपरा पर साम्राज्यवादी परंपराओं के प्रभुत्व की है, वहीं दूसरी धारा में भारतीय परंपरा की साम्राज्यवादी परंपराओं से टकराहट है। इस प्रकार हम एक को एकांगी नवजागरण और दूसरे को समग्र नवजागरण कह सकते हैं। तथ्य है कि नवजागरण की दूसरी धारा अनिवार्यतः अतीतवादी या आधुनिकता-विरोधी नहीं थी। जिसने सच्ची आधुनिकताओं को अपनाते हुए रूढ़ अतीत के पन्नों को केंचुली की भांति उतार फेंका। फलतः जनमानस में नई ऊर्जात्मक शक्ति का संचार आरंभ हुआ।[3]

भारतेंदु बाबू गोपालचंद्र के प्रतिभाशाली पुत्र थे। जिन्होंने पिता की भांति राष्ट्र उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की संभावनाओं, वास्तविकताओं को अपनी कृतियों में यथावत् रूप में उजागर किया। सन् 1930 में उनके द्वारा लिखा— "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" इसका सजीव प्रमाण है। इस नाटक में उन्होंने धर्म और उपासना के नाम पर समाज में प्रचलित अनाचारों का जघन्य रूप दिखाते हुए राजा शिवप्रसाद को लक्ष्य किया। साथ ही झूठी खुशामतकर्ताओं और केवल अपनी मानवृद्धि की फ्रिक करने वाले शासकों पर सत्य के छींटे छोड़े हैं। भारत के प्रेम में मतवाले, देशहित की चिंता में व्यग्र, भारतेंदु पर सरकार की जो कुदृष्टि हुई। उसके कारण को बहुत कम राजा समझ पाए। सरकार के इस अनाचारपूर्ण हस्तक्षेप ने मानव समाज के संपूर्ण उत्थान को समय-समय पर परिबंधित करने का घृणित कार्य कर जनमानस को सत्य से दूर कर दिया।

सरकार के इस अनाचारपूर्ण कार्य के प्रतिकार में भारतीय साहित्यकार जनता को जागरूक करने का कार्य अपनी साहित्यिक कृतियों से निरंतर करते रहे। ऐसे साहित्यकारों में भारतेंदु का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रयास में एक ओर जहाँ मौलिक कृतियों की रचना हुई तो वहीं कई कृतियों के अनुवाद भी हुए। उनकी मौलिक एवं अनूदित कृतियाँ पूर्णतः नवजागरणयुक्त चेतना का विकास और उसके संचार को समर्पित थी।

निष्कर्ष

भारतेंदु के अनूदित नाटकों में विद्यासुंदर, पाखंड-विडंबन, धनंजय–विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, दुर्लभबंधु, रत्नावली, सत्य हरिश्चंद्र और भारतजननी प्रमुख है। कुछ विद्वान सत्यहरिश्चंद्र को उनकी मौलिक कृति मानते हैं। किंतु सत्य तो यह है कि यह एक पुराने बांग्ला नाटक का हिंदी अनुवाद है।

विद्यासुंदर की उत्पत्ति चौर कवि कृत 'चौरपंचाशिका' को भारतचंद्रर राय ने कविता में प्रस्तुत किया था। इसी काव्य के आधार पर यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने सन् 1968 में बंगभाषा में 'विद्यासंदुर' की रचना की। इन्हीं के इसी बहुचर्चित नाटक के आधार पर भारतेंदु ने एक नाटक की रचना की, जिसका नाम 'विद्यासुंदर' रखा। इसकी कथा बंगभाषा में अनेक रूपों में लिखी गई, जो आज भी लोगों की जबान पर है। इसमें विद्या नामक नायिका और नायक सुंदर की प्रेम कथा है। तीन गर्भांकों में विभक्त इस नाटक को पश्चिमत्तोर देशों ने सौ पुस्तकें लेकर इसका सम्मान बढ़ाया।[4]

पाखंड-विडंबन प्रबोध चंद्रोदय के तीसरे अंक का अनुवाद है। जिसे श्रीकृष्ण मिश्र ने लिखा था। इसमें भारतेंदु ने हिंदू-मुस्लिम समाज की कुंठाओं और कुरीतियों को उजागर करने का प्रयास किया है। 'धनंजय-विजय' का वैशिष्ट्य यह है कि भारतेंदु ने इसका अनुवाद छंदोबद्ध किया है। जिस पुस्तक के आधार पर इसका अनुवाद हुआ है, वह सन् 1525 में लिखी गई थी और इसी कारण प्रामाणिक भी है। इसकी पाठ योजना मूल के अनुकूल ही है। यह कविकांबन कृत संस्कृत नाटक 'धनंजय-विजय' का अनुवाद है। इसमें स्वतंत्रता और महाभारतकालीन विभिन्न घटनाओं की चर्चा है। जबकि 'कर्पूर मंजरी' राजशेखर की प्राकृत कृति 'कर्पूरमंजरी' का

छायानुवाद है। 'मुद्राराक्षस' महाकवि विशाखादत्त के मुद्राराक्षस का हिंदी अनुवाद है। इसका रचनाकाल सन् 1875-77 है। इस नाटक में समाज की विषमता और पाखंड को चित्रित किया गया है।

'रत्नावली' श्रीहर्ष कवि कृत 'रत्नावली' नाटिका का अधूरा अनुवाद है। यह नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनंद देने वाली है। इस नाटिका में जहाँ संस्कृत के छंद थे, वहाँ अनुवादक ने भी छंदो का प्रयोग किया है। 'दुर्लभ-बंधु', अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर की कृति 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का भाषानुवाद है। भारतेंदु ने यह अनुवाद बांग्ला अनुवाद की मदद से किया है। कहा जाता है कि भारतेंदु इस नाटक का अनुवाद पूरा न कर सके, कुछ अंश बाकी रह गए थे, तभी इनकी मृत्यु हो गई थी। बाकी अंश का अनुवाद भारतेंदु के मृत्योपरांत पं. रामशंकर व्यास ने किया। इस अनुवाद का नाम भारतेंदु ने 'वंशपुर का महाजन' भी रखा था। इसको अनूदित करते समय भारतेंदु ने इसके पात्रों को भी बदल दिया था, जिसके कारण यह कई दिनों तक चर्चा का विषय बना रहा। इस अनुवाद को पूरा करने में बालेश्वर प्रसाद और पं. रामशंकर व्यास का बहुमूल्य योगदान है। इस अनुवाद का कुछ अंश हरिशचंद्र मैगज़ीन में भी प्रकाशित हुआ। जबकि 'भारत जननी' भारतेंदु के एक मित्र द्वारा बंगभाषा में लिखित 'भारतमाता' का अनुवाद है। जिसे उन्होंने सुधारते- सुधारते सारा फिर से लिख दिया।

भारतेंदु ने अपने नाटकों के लिए जिस सामग्री का चयन किया, वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रकाश डालते हैं। एक ओर जहाँ 'चंद्रावली' में प्रेम के आदर्श रूप को दिखाया गया, वहीं दूसरी ओर 'नीलदेवी' में पंजाब के एक हिंदू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई के ऐतिहासिक वृत्त को लेकर लिखा गया है। 'भारत दुर्दशा' में देशदशा को बड़े मनोरंजक ढंग से सामने लाया गया है। समाज में घुलते विष रूपी अनाचार को व्याख्यायित करने के लिए 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति का चित्रण किया है। 'प्रेमयोगिनी' में भारतेंदु ने वर्तमान पाखंडमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है।

भारतेंदु ने भारतीय नवजागरण के संदर्भ में सामंती जीवन एवं कला दृष्टि के विरुद्ध संघर्ष करते हुए लोकोन्मुख दृष्टि को प्रतिष्ठित करना उनके इतिहास लेखन का प्रमुख उद्देश्य था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पूर्व महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन दरबारी एवं सांमती कवियों की तुलना करते हुए लिखा है— "भारतीय नवजागरण के अग्रदूत और जनता की जाग्रत चेतना तथा स्वाधीनता की आकांक्षा के प्रतिनिधि भारतेंदु हरिशचंद्र को श्रेष्ठ साबित किया था।"

वस्तुतः सन् 1857 के विद्रोह ने नवजागरण को एक नया आयाम प्रदान कर भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कारण, भारतीय संदर्भ में नवजागरण का अर्थ साम्राज्यवादी आधुनिकता के प्रति सम्मोहन कदापि नहीं हो सकता था। राजा राममोहन राय ने साम्राज्यवाद की ओर झुके बिना नवजागरण की उपलब्धियों से सन् 1857 के विद्रोह में नवजागरण की नई धारा का बीजारोपण किया। जिसका झुकाव साम्राज्यवाद-विरोधी था। पहली धारा की भांति इसके मूल सामाजिक आधार में विशिष्ट वर्ग के लोग न होकर साधारण मध्यवर्ग और किसानवर्ग के लोग थे। इस नई प्रभावी धारा से जुड़ने हेतु भारतेंदु ने अपनी पैतृक संपति तक को स्वाह कर अपना वर्गच्युत स्थापित किया।

सन् 1885 की विचारधारा से जुड़े बुद्धिजीवियों ने 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह को झुठलाने की बहुत कोशिश की। वह इसे राजद्रोहमूलक सिपाही विद्रोह मनाते थे। भारतेंदु मंडल के एक और प्रमुख साहित्यकार बदरीनायराण उपाध्याय प्रेमघन ने भारत सौभाग्य (1889) में 1857 के विद्रोह को शासक वर्ग के नजरिए से देखा। जबकि भारतेंदु ने इसे अपने प्रहसनात्मक एवं फंतासीपूर्ण नाटकों में ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था का साधन मानकर उसे बड़ी निर्ममता से उघाड़ा है। इस निर्ममता का प्रमुख कारण भारत की वह असहाय पीड़ा थी, जिसे वह सहन नहीं कर पा रहे थे और इस पीड़ा को वह अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त करते रहे।

भारतेंदु मंडल के जाने-माने साहित्यकार प्रेमघन जिस प्रकार साम्राज्यवादी सुधारवाद के असर से घिरे हुए थे, वैसे भारतेंदु हरिशचंद्र नहीं। वह एक राजभक्त परिवार से होने के बावजूद ऐसे व्यक्तित्व थे जिन्हें एक ओर अपने ही संस्कारों से तीव्र संघर्ष करना पड़ा, वहीं दूसरी ओर कितने ही लोगों के क्रोध का भाजन भी बनना पड़ा। वह सच्ची राष्ट्रीय भावनाओं के कारण विद्रोह का विरोध नहीं

ISSN(Online) : 2319-8753

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

A Monthly Peer Reviewed Journal

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 3, Issue 7, July 2014

कर सकते थे और न ही खुलेआम समर्थन। क्योंकि ऐसा करना कड़े खतरे से खाली नहीं था। कारण, उस समय ब्रिटिश राज्य के विरोध को राजद्रोह करार दिया जाता था। जिसकी सजा फांसी थी। वह प्रेमघन की भांति देश के वीर नायकों को धिक्कार कर शासक वर्ग को खुश नहीं करना चाहते थे और न ही उन्होंने यह कभी माना कि ढीली धोती पहनाना भारतीयों की कायरता या निर्बलता का प्रतीक है। बल्कि वह इसे भारतीयों की उदारता एवं सहजता का प्रमाण मानते रहे।

भारतेंदु ने अंग्रेजों की कुरीतियों को चुनौती देते हुए अपनी आलसी, रूढ़िग्रस्त, सोए एवं फूट के शिकार देशवासियों को जगाने का कार्य किया। भारतेंदु मंडल के अनेक सदस्यों ने भारतेंदु की इस चेतना को आगे बढ़ाते हुए सन् 1885 के बाद सुधारवाद की छत्रछाया में उसका गला घोंट दिया और एकांगी सुधारवाद का मार्ग अपना लिया। इस परिपेक्ष्य में 'भारतेंदु मंडल' एक भ्रामक शब्दावली है। इस चेतना को 'एक व्यापक चेतना' कदापि नहीं जा सकता। क्योंकि भारतेंदु मंडल के अधिकांश साहित्यकारों ने राजा राममोहन रायकालीन एकांगी नवजागरण का पुर्नउन्मेष कर भारतेंदु के समग्र नववजागरणयुक्त दृष्टि का विकास नहीं किया।

इस प्रकार यह कहना समीचीन होगा कि भारतेंदु की भांति अन्यत्र किसी ने समग्र नवजागरण का सूत्रपात नहीं किया। वह शिक्षा, स्वास्थ्य, धर्म, व्यवहार, कर्त्तव्य और अधिकार आदि सभी क्षेत्रों में सुधार की बात करते; विशेषतः मुक्ति की के संदर्भ में। भारतीय सिपाहियों ने जब मिस्र-विजय की तब उन्होंने एक बहुचर्चित कविता लिखी— 'विजयनी विजय-वैजयन्ती' (1882)। उनकी इस कविता का हवाला मुख्यतः उनकी राजभक्ति के लिए दिया जाता है। किंतु भारतेंदु ने इसमें भारतीय सिपाहियों की क्षमता का गौरवशाली गुणगान किया है। प्रायः भारतेंदु ऐसे अवसर की तलाश करते रहते थे जब वह महारानी विक्टोरिया की उदारता और क्षमता की प्रशंसा की ओट में साखा भारतवसियों की वास्तविक हालात और ताकत का बखान कर सकें। अवसर मिलने पर वह भारतीय-विकास वायु को प्रवाह देने से कभी पीछे नहीं हटे। जिसे उनके साहित्य सृजन में स्पष्ट देखा जा सकता है।[5]

भारतेंदु भारतीयों के दुःख, दर्द, पीड़ा और ऐतिहासिक गौरव-चिह्नों को गिनाने के कोई अवसर नहीं छोड़ते थे। उनकी इस खूबी को उनकी कविताओं के शीर्षकों में ढूंढा जा सकता है जो तात्कालीन राजनीतिक घटनाओं का कच्चा-चीठा खोलती हैं। एक ओर जहाँ इस युग में मध्ययुगीन भक्तिकालीन रंगढंग की कविताएँ विद्यमान थीं, वहीं दूसरी ओर तात्कालिक राजनीतिक घटनाओं पर आधारित कविताएँ एवं मुकरियाँ थी। काव्य के क्षेत्र में इतना अधिक विरोधावास अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। किंतु दोनों में एक चीज़ समान थी; 'पीड़ा के बयान के साथ स्वच्छंदता की अंर्तनिहित चाह।' 'विजयनी विजय वैजयन्ती' में भारतेंदु ने भारत की इसी दुःखभरी स्थिति का वर्णन किया है—

"जो भारत जग रह्यो सब सों उत्तम देस।

ताही भारत में रह्यों अब नहिं सुख को लेस।।"

अर्थात् भारतेंदु का दृष्टिकोण राष्ट्रवादी रहा। यही कारण है कि वह परमवीर हनुमान, अर्जुन और शास्त्रार्थ निपुण अभिमन्यु से लेकर पृथ्वीराज तक पहुँचे हैं। इसके पश्चात् वह पंजाब के राजा रणजीत सिंह तक पहुँचते हुए लिखते हैं—

"कित अंतिम नरवीर रणजीत सिंह भूपाल।"

भारतीय सिपाहियों की मिस्र-विजय की घटना के संदर्भ में भारत के ऐतिहासिक वीरों की गौरवशाली गाथा सुनाते हुए वह सन् 1857 के सिपाहियों की ऐतिहासिक भूमिका रेखांकित करना नहीं भूले। इसी कविता में उन्होंने औपनिवेशिक आतंकवाद के नग्न रूप की ओर संकेत करते हुए लिखा—

"कठिन सिपाही द्रोह-अनल जा जन-बल नासी।

जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी।।"

इन पंक्तियों को देखकर ऐसा लगता है, मानो भारतेंदु ने अपने समय के औपनिवेशिक आतंकवाद को पूर्णता जी-कर लिखा हो। वह सिपाही विद्रोह को सही ठहराते हुए कहते हैं कि यह कितना कठिन काम था। जिसके प्रतिफल उन्हों अपने जीवन तक को संकट में डालना पड़ता था। इसका प्रतिशोध लेने के लिए अंग्रेज सरकार ने देश के जन-बल का इतनी निर्ममता के नाश किया कि अब भय के कारण कोई भारतवासी सिर तक नहीं उठता था। भारतेंदु कार्ल मार्क्स के समकालीन होने के कारण क्रांतिकारी नजरिया रखते थे। जिसे कार्ल मार्क्स ने मर्यादा कहा, उसे भारतेंदु ने कठिन कहा। यह अंतर स्वाभाविक था। कारण, कार्ल मार्क्स पश्चिम की स्वतंत्र स्थितियों में रहकर भारत की घटनाओं पर टिप्पणी कर रहे थे। जबकि भारतेंदु युगीन स्थितियों को देखते, जीते और अन्वेषित कर रहे थे।

भारतेंदु ने अपने 'विषस्य विषमौषधम्' नामक नाटक में राजा-महाराजा और सामंतवाद के पतन की ऐतिहासिक अनिवार्यता की अधिक परिपक्व घोषणा करते हुए व्यंग्य भरे स्वर में लिखा है— "सुख भी तो हिन्दुस्तान में तीन ही ने किया है— एक मुहम्मद शाह, दूसरा वाजिदअली शाह और तीसरा हमारे महराज ने। मुहम्मद शाह से लखनऊ ही छूटा, अब देखे इनकी कौन गति होती है।" उनकी कविता 'विजय-वल्लरी' (1881) और 'विजयनी विजय वैजन्यती' (1884) में भारत के दु:खों-कष्टों' का सजीव वर्णन करती है। जिसमें 'विजय-वल्लरी' अफगान युद्ध की समाप्ति पर और 'विजयिनी विजय वैजन्यती' मिस्र विजय के बाद लिखी गई कविता है।

भारत-दर्दुशा (1876) नामक नाटक की रचना भारतेंदु ने दुष्ट लिटन के काल में की थी। इस नाटक में वह भारत की दुर्दशा का जिक्र करते हैं कि वर्ण-वैषम्य, दरिद्रता, भूखमरी, महामारी, महँगाई, फूट निरुद्यमता, असंतोष, आलस्य, धार्मिक उन्माद, कायरता आदि उस समय जनमानस में कैसे रचा बसा था। जिसे भारतेंदु ने इन पंक्तियों के माध्यम प्रकट किया है— "कुछ पढ़े-लिखे लोग देश सुधारना चाहते हैं। हहा-हहा! एक चने से भाड़ फोड़ेगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको इतना बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं! हमारी पॉलिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख! यह क्यों? मैं अपनी फौज ही भेज के सब चौपट करता हूँ।" ब्रिटिश सेना का इतना आतंक था कि सुधार की बात करने वाले बहुत कम थे। जिसमें भारतेंदु प्रथम थे। वह बड़ी उत्सुकता से 'भारत-दुर्दशा' में एक बंगाली और एक महाराष्ट्री पात्र के माध्यम से हिंदी क्षेत्र में बंगाली-महाराष्ट्री सामाजिक विभिन्नता को दर्शाते हैं।[6]

'भारत-जननी' में भारतमाता अपने पूर्ववत् में सोए पुत्रों को जगाती है। ताकि जनजागरण कि चेतना का संचार हो सकें। किंतु कुछ समय के बाद सब पूर्ववत् की भांति सो जाते हैं। भारतीयों की ऐसी उदासीनता पर भारतेंदु ने लिखा—

"छोट चित्त अतिभीरू, बुद्धि-मन चंचल विगत उछाह।

उदरभरणरत, ईस बिमुख, सब भए प्रजा नप नाह।।"

अर्थात् फैशन, अपव्यय, सिफारिश और अदालत जैसे नए आधुनिक रोग भारतीयों की चेतनहीनता का बीजभाष बने रहे।

हालांकि भारतेंदु ने स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया। किंतु ऐसी स्त्री-शिक्षा का नहीं जो स्त्री को निर्लज्ज बनाती हो। 'नीलदेवी' की भूमिका में उन्होंने सिर्फ इन्हीं संदर्भों में भारतीय स्त्रियों को आगे आने का आह्वान किया है— "और बातों में जिस भाँति अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती है, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज सँभालती हैं, अपनी संतानगण को शिक्षा देती है, अपना स्वत्व पहचानती हैं।

ISSN(Online) : 2319-8753

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology

A Monthly Peer Reviewed Journal

(An ISO 3297: 2007 Certified Organization)

Vol. 3, Issue 7, July 2014

अपनी जाति और देश की संपति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को ग्रहदासता और कलह ही में नहीं खोतीं...।" उनकी मान्यता थी कि भारतीय स्त्रियाँ भी ऐसी बनें। स्त्री द्वारा घर की दासता और कलह से आजादी; राष्ट्रीय एवं सामाजिक कर्मी बनने की परिकल्पना 19वीं सदी के नवजागरण की एक प्रमुख घटना रही।

भारतेंदु को अपने जमाने में एक नई चीज़ का ज्ञान हुआ— 'स्वत्व'। इस प्रकार 19वीं सदी के नवजागरण की एक मुख्य खोज 'स्वत्व' है। हम स्पष्ट देखते हैं कि भारतेंदु आधुनिकता के समर्थक थे, जिन्हें समाज सुधार की चकाचौंध में अपने 'स्वत्व' की जरा भी फिक्र नहीं थी। भारतेंदु के नवजागरण का स्वप्न इंग्लैण्ड के आधुनिक समाज के जनतांत्रिक जागरण और भारत की गौरवशाली परंपराओं के बीच रचनात्मक संवाद का नतीजा था।

निष्कर्षतः भारतेंदु ने अपने युग के नवजागरण में कबीर से लेकर गुरू नानक तक के उत्सर्ग को समेटते हुए पूरे भक्ति-आंदोलन की परंपरा में प्रतिष्ठित कर दिया। देश की वैचारिक चिनगारियों को इकट्ठा करके राष्ट्रीय लपट में बदलना इसी का परिणाम है। भारतेंदु का राष्ट्रीय जागरण के लिए बलिया वाला भाषण ऐतिहासिक है। इसमें वह आह्वान करते हैं— "बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, बाह्मण, मुसलमान सब एक हाथ पकड़ो।" राष्ट्रीय जागरण के इस आह्वान में मानव बंधन का एक अद्भुत संदेश निहित था। यह नवजागरण के वैश्विक तत्त्व 'रैशनलिज्म' का 'नैशनलिज्म' से मिश्रण था। यहाँ दुविधा का कोई अंधेरा नहीं था।

भारतेंदु ने सन् 1857 की चेतना को सांस्कृतिक-वैचारिक नवजागरण का रूप देते हुए क्रांतिकारी सुधारवाद का रास्ता दिखाया। ताकि 'कविवचन सुधा' की उद्‌घोषणा के अनुसार 'स्वत्व निज भारत गहै' की संकल्पना को साकार किया जा सके। वह हर प्रकार के जोखिम को उठाते 'कविवचन सुधा' में यह आशा व्यक्त करते हैं कि— "जिस तरह अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ, वैसे ही भारतवर्ष ही स्वाधीनता का लाभ कर सकता है।" वह अमेरिका की एकता और स्वतंत्रता से गद्गद् थे। वह उपनिवेशित भारत में राष्ट्र का वैसा ही भविष्य देख रहे थे, जैसा कि तात्कालीन अमेरिका के पास था। भले परिस्थितियों के अभाव में खुद कुछ ज्यादा कर पाने में असमर्थ थे। किंतु कुछ कर गुजरने की अद्‌भुत लौ जलाने के अग्रणी मार्गदर्शक बने रहे। अन्ततः उनकी आत्मपहचान, स्वतंत्रता और नए ज्ञान प्रकाश की खोज विशिष्ट रही।[7]

संदर्भ

1) शंभुनाथ (संपा), भारतेंदु और भारतीय नवजागरण, प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली, 2009
2) पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2000
3) शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, 2009
4) (संपा), डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूरपेपरबैक्स, नोएडा, 2009
5) भारतेंदु ग्रंथावली भाग-2
6) डॉ. पूरनचंद टडंन, प्रयोजनमूलक हिंदी, किताव घर, नई दिल्ली
7) गोस्वाममी, कृष्णकुमार, अनुवाद विज्ञान की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008